निरुक्त

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गए वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। निघण्टु में पाँच अध्याय और निरुक्त में सात अध्याय हैं। निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में की है और पंचम अध्याय की व्याख्या सप्तम अध्याय में की है।

निरुक्त के द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद तक निरुक्त की भूमिका वर्णित है। प्रथम अध्याय में निघण्टु का लक्षण, पदों के भेद, भाव के विकार, शब्दों का धातुज सिद्धान्त और निरुक्त की उपयोगिता वर्णित है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन के सिद्धान्त, निघण्टु के शब्दों की व्याख्या, द्वितीयपाद से सप्तमपाद तक ऋचाओं के उद्धरण देकर अनेक शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत है।

1. पदों का चतुर्विध-विभाजन

लोक और वेद में चार पदजातियाँ-शब्दों के भेद हैं- **नाम, आख्यात, उपसर्ग** और **निपात**। क्रमशः इनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है-

नाम- नाम का लक्षण प्रस्तुत करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि- **"सत्त्वप्रधानानानि नामानि"** अर्थात् जिनमें सत्त्व प्रधान हो, वे **'नाम'** हैं। सत्त्व से तात्पर्य सिद्ध क्रिया से है, यथा-पाठ इत्यादि।

आख्यात–**"भावप्रधानमाख्यातम्"** अर्थात् जिनमें भाव प्रधान हो, वह **आख्यात** है। भाव का अर्थ क्रिया है, यथा–पढ़ना इत्यादि।

नाम और आख्यात दोनों में आरम्भ से लेकर अन्त तक होने वाली क्रिया की व्याख्या होती है, यथा–"व्रजति" अर्थात् "जाता है" में पैर बढ़ाना, हाथ फेंकना आदि से लक्ष्य तक पहुँचने तक का संग्रह होता है। किन्तु जब तक क्रिया का क्रम चल रहा है, तब तक उसे **'भाव'** कहते हैं, यथा–व्रजति, पचति, इत्यादि **"पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्"**। और जब क्रिया मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है, सिद्ध हो जाती है, तब नाम कहलाती है–**मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः, व्रज्या पक्तिरिति**। 'अदः' अर्थात् 'वह' से वस्तुओं का या सिद्धक्रियास्वरूप सत्त्व का सामान्य निर्देश होता है। गौ, अश्व, पुरुषादि इनका उदाहरण है। भाव को सामान्य रूप से 'होता है' कहते हैं। इसका उदाहरण है– सोता है, चलता है, बैठता है–**"अदः इति सत्त्वानामुपदेशः। गौरश्व पुरुषो हस्तीति, भवतीति भावस्य, आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति इति।।"**

पाणिनि के व्याकरण में क्रिया की दोनों ही अवस्थाओं को **'भाव'** कहते हैं, जिसके स्वतः दो भेद हो जाते हैं– साध्यावस्थापन्न भाव, जिसे निरुक्तकार 'भाव' कहते हैं तथा सिद्धावस्थापन्न भाव, जिसे निरुक्तकार **'सत्त्व'** कहते है।। पतञ्जलि (5/1/119) के अनुसार सत्त्व का वास्तविक द्रव्य है जो गुणों का आश्रय होता है, जिसमें दूसरे गुणों का प्रादुर्भाव होने पर भी तत्त्व का विघात न हो। दूसरे शब्दों में वस्तुमात्र के बोधक द्रव्य हैं। नाम-पदों में इसी द्रव्य का प्राधान्य रहता हैं जैसे–घटः, पटः, धनम्। यद्यपि इनमें भी क्रिया रहती है, किन्तु वह आख्यात-पदों के समान अमूर्त नहीं रहती। क्रिया का गौण-भाव उसे मूर्त कर देता है। यही कारण है कि नाम-पदों में स्थित द्रव्य का प्रत्यक्ष हो सकता है। द्रव्यों के बोधक मूल शब्द प्रातिपदिक होते हैं जिनमें सुप् विभक्तियाँ लगती हैं। ये विभक्तियाँ कृदन्त शब्दों में भी लगती है, जैसे– पठितव्यम्, पाठकः। इसीलिए पतञ्जलि ने कहा है कि कृत्-प्रत्ययों से अभिहित भाव (क्रिया) भी द्रव्य के ही सदृश होता है। किन्तु यास्क के लिए वस्तुतः ऐसे विभाजन का कोई महत्व नहीं, यदि 'पुरुष' द्रव्य वाचक है तो 'वाचक' भी वैसा ही है। क्रिया की पूर्णता और मूर्तता ही द्रव्य-प्रधान नाम पद होने का हेतु हैं।

उपसर्ग– यास्क ने उपसर्गों का निश्चित लक्षण नहीं किया है। उपसर्ग निरूपण में शाकटायन और गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है। शाकटायन के मतानुसार **"न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति"**– अर्थात् नाम-आख्यात से अलग होने पर उपसर्ग अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते हैं। नाम और आख्यात का (अन्य) अर्थ से संयोग बतलाते हैं। अतः उपसर्ग नाम और आख्यात से मिलकर तो सार्थक हैं, अन्यथा निरर्थक हैं। स्वतन्त्रतया इनका कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार गृहगत सम्पूर्ण वस्तु प्रकाश के अभाव में दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार उपसर्ग भी इन अर्थों के द्योतक मात्र होते हैं, वाचक नहीं। यथा– अतिधान, सुब्राह्मणः।

गार्ग्य के मत में उपसर्गों के बहुत तरह के अर्थ हैं–**"उच्चावचाः पदार्थाभवन्तीति गार्ग्यः"**। ये स्वतंत्र रूप से भी सार्थक हैं, निरर्थक नहीं। अतः शाकटायन का मत उचित नहीं है। उपसर्ग से युक्त होने पर नाम तथा आख्यात में जो अर्थ भिन्नता आती है, वही उसका स्वतंत्र अर्थ है। यथा– आ–'इधर' के अर्थ में, प्र, परा-उधर, अभि-सामने; प्रति-उलटे; अति, सु-आदर के अर्थ में; उत्-ऊपर; सम-एक साथ; वि, अप-अलग; अनु 'समान' और पीछे होना; अपि-संसर्ग; उप-समीप; परि-चारों ओर; अधि-'ऊपर होना' या सबसे ऊँचा। इस प्रकार उपसर्ग भिन्न अर्थ बतलाते हैं–**"आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतम्य प्रातिलोमस्य। अभीत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति-सु इत्यभिपूजितार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ। उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्। वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अनु इति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उप इत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम् अधीत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षितव्याः।।"**

निपात–**"उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति निपाताः"**–अर्थात् अनेकार्थक होने के कारण, इन्हें **'निपात'** कहते हैं। निपात शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से बना है। लौकिक भाषा में इसका अर्थ है– 'जो अज्ञात रूप से आ गिरे।'

इनका प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट नहीं होता। अतः ये निपात कहलाते हैं। इनके तीन प्रकार हैं–

(i) **उपमार्थक**–इस अर्थ में मुख्यतः चार निपात आते हैं–**इव, न, चित् तथा नु।** '**इव**' भाषा तथा वेद दोनों में उपमार्थक है। यथा–अग्नि सा (ऋ. 10/84/2), इन्द्र-सा (ऋ. 10/173/2)। '**न**' भाषा में निषेधार्थक, किन्तु वेद में निषेधार्थक एवं उपमार्थक-दोनों हैं। यथा–इन्द्र देव को नहीं माना (ऋ. 10/86/1) – यहाँ निषेधार्थक है, जब निषेध करता है तब इसका प्रयोग पहले होता है। शराब पिये मतवालों के समान (ऋ. 8/2/12) – यहाँ उपमार्थक है; जिससे उपमा दी जाती है वाचक) उसका प्रयोग बाद में होता है। 'चित्' निपात अनेकार्थक है। यथा–'मान्य' आचार्य यह बोलें– यहाँ सम्मानार्थक है। 'दही-सा' – यहाँ उपमार्थक है। "कुल्माषों को ले आओ" – यहाँ निन्दार्थक है। 'नु' निपात भी अनेकार्थक है। यह हेतुकथन में आता है। यथा– इस कारण इस कार्य को करेगा। अनुप्रश्न में भी 'नु' निपात आता है, यथा– "कैसे करेगा?"। उपमार्थ में भी 'नु' निपात होता है; यथा– हे बहुत प्रकार से बुलाये गये इन्द्र, वृक्ष की शाखाओं की तरह तुम्हारी रक्षाएँ चारों व्याप रही है (ऋ. 6/24/3)।

(ii) **कर्मोपसंग्रहार्थक**– ये निपात जो दो या दो से अधिक सामासिक पदों के मध्य में आकर कथित अर्थों या वस्तुओं की भिन्नता को निश्चित रूप से सूचित करते हैं। इसके अन्तर्गत **च, वा, आ, अह, ह, किल, हि, ननु, खलु, शश्वतम्, नूनम्** इत्यादि निपात आते हैं।

(iii) **पदपूरणार्थक**– ये वे निपात हैं, जिनका प्रयोग छन्दोबद्ध ग्रन्थों में पादपूर्ति हेतु किया जाता है। गद्यात्मक शैली को अलंकृत करने के लिए भी इनका प्रयोग होता है। इसके अन्तर्गत–कम, इम, इत, उ, इव, त्व, त्वत, इत्यादि प्रमुख निपात हैं।

2. क्रिया के छः रूप षड्भावविकार

लोक एवं वेद में पद के चार भेद हैं– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमे से आख्यात का लक्षण यास्क ने **"भावप्रधानमाख्यातम्"** किया है। अर्थात् जिनमें भाव प्रधान हो, वह आख्यात है। भाव का अर्थ क्रिया हैं क्रिया की उत्पत्ति से लेकर अवसानपर्यन्त छः भावों को दर्शाते हुए यास्क ने आचार्य वार्ष्यायणि के मत का उल्लेख किया है–**"षड्भाव विकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः–जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति"**–अर्थात् क्रिया के छः रूप हैं–जन्म लेना, होना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। क्रमशः इनका विवेचन निम्न प्रकार है–

(1) **जायते– जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे, नापरभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति** =अर्थात् यह क्रिया पहली क्रिया के प्रारम्भ मात्र को कहती है, परवर्ती क्रिया को नहीं कहती है और न उसे मना करती है। क्योंकि जन्य वस्तु की जब उत्पत्ति होती है, तब उसे न तो यही कह सकते हैं कि उसकी सत्ता है और न ही यह कह सकते हैं कि उसकी सत्ता नहीं है। यदि 'जायते' को 'अस्ति' कह दे अर्थात् 'जायते' रूप में अस्तित्व को ले आवें तो जो पहले से ही 'अस्ति' अर्थात् 'है', वह अब पैदा होने कैसे चली? और यदि उसमें अस्तित्व है ही नहीं, तब वह 'जायते' उत्पन्न हो रही है, यह व्यवहार ही कैसे हो सकता है। अतः 'जायते' यह क्रिया पहली क्रिया के प्रारंभ मात्र को कहती है, परवर्ती क्रिया को नहीं कहती है और न उसे मना करती है।

(2) **अस्ति– "अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्"**। यह क्रिया उत्पन्न वस्तु की निश्चयात्मक स्थिति को कहती है। यह बाद वाली क्रिया को न कहती है, न ही निषेध करती है।

(3) **विपरिणमते– "विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्वाद्विकारम्।"** यह क्रिया अपनी प्रकृति को न छोड़ने वाली वस्तु के परिवर्तन का कथन करती है तथा परवर्ती क्रिया वर्द्धते को न कहती है, न मना करती है।

(4) **वर्द्धते– "वर्द्धत इति स्वाङ्गाम्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानाम् वर्द्धते, विजयेनेति वा वर्द्धते शरीरेणेति वा"**। यह क्रिया अपने अवयवों हाथ, पैर इत्यादि की वृद्धि को कहती है, या संयुक्त अर्थों यथा– स्वर्ण, धान्यादि की वृद्धि को कहती है। यथा–वह अपने शरीर से बढ़ रहा है। वह विषय से बढ़ रहा है, इत्यादि। यह परवर्ती क्रिया 'अपक्षीयते' को न कहती है, न मना ही करती है।

(5) **अपक्षीयते– "अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्"**। इसे वर्द्धते का ठीक उल्टा समझना चाहिए। यह अपनी परवर्ती क्रिया विनश्यति का न कथन करती है और न निषेध करती है।

(6) **विनश्यति– "विनश्यतीत्यपरभावस्यादिभाचष्टे। न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति"**। यह क्रिया किसी अन्तिम क्रिया के प्रारम्भ मात्र को कहती है तथा पूर्वभाव का न तो कथन ही करती है, न निषेध करती है।

क्रिया की उपर्युक्त अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य जो भी अवस्थायें हैं, वे इन्हीं के रूप हैं। उपर्युक्त छः अवस्थाओं में ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है–**"अतोऽन्येभावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह"**।

3. निरुक्त के अध्ययन के उद्देश्य

यास्क के अनुसार निरुक्त कई विषयों के लिए उपयोगी है। उसके अध्ययन के उद्देश्य को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **शब्दों का अर्थबोध कराना– "समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः"**। निरुक्त में निघण्टु में गिनाये गए वैदिक शब्दों की व्यवस्था की गई है, अर्थात् निरुक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विन्तरनित्स ने भी यास्क को प्रथम भाष्यकार माना है। अतएव शब्दों का अर्थबोध कराना निरुक्त के अध्ययन का प्रथम उद्देश्य है।

2. **वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान कराना– "इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते"**। निरुक्तशास्त्र के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। निरुक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है और यास्क उनका प्रयोग दिखलाने के लिए वैदिक मन्त्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं। अतएव मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान भी निरुक्त के द्वारा होता है। प्रायः 800 मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने की है।

3. **व्याकरण का ज्ञान कराना– "अर्थमप्रतियतो नात्यन्त स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च"**। निरुक्त के द्वारा मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान होता है। अर्थज्ञान के द्वारा ही ठीक-ठीक स्तर तथा संस्कार-व्याकरण प्रक्रिया का निश्चित ज्ञान होता है। अतएव निरुक्त के द्वारा व्याकरण का ज्ञान होता है। यह एक विद्यास्थान है और व्याकरण का पूरक है, क्योंकि व्याकरण शब्दों की रचना, बहिरङ्ग की व्याख्या करता है तो निरुक्त उनके अर्थ की, अन्तरंग की खोज करता है। इसके लिए वह शब्दों की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ से संगति दिखाते हुए पूरे शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करता है। यद्यपि व्याकरण पर वह सर्वस्व अर्पण नहीं कर देता है, क्योंकि व्याकरण की शब्दसंस्कार या वृत्तियाँ अपवाद से भरी होती हैं–**"न संस्कारमाद्रियेत, विशवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति"**। किन्तु फिर व्याकरण और निरुक्त में अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

4. **देवता का ज्ञान कराना– "अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्"**। निरुक्ताध्ययन का एक प्रयोजन यह है कि यज्ञ कर्म में देवता के नाम से किये हुए बहुत से विधि-निर्देश, निरुक्त द्वारा जाने जा सकते हैं। क्योंकि निरुक्त द्वारा ही 'किस मन्त्र में कौन प्रधान देवता है–इसका निर्णय किया जा सकता है। और तभी किसी देवता को हविष्य देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उच्चारण संभव है। कभी-कभी किसी मन्त्र में कई देवता रहते हैं, जिसका ज्ञान निरुक्त द्वारा होता है कि किसे प्रधानता दी गई है? इस प्रकार देवताज्ञान कराने के कारण यज्ञ-यागादि के सुचारु रूप से सम्पादन के लिए निरुक्तशास्त्र के अध्ययन की सुतराम् आवश्यकता है। यदि यह कहा जाए कि वेदों में देवता लिङ्गों से सुपरिचित है, अतः दैवत-परिचय के लिये निरुक्तादि किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं। तो यह कथन अनुचित है। क्योंकि केवल लिङ्ग-ज्ञान से देवता ज्ञान असंभव है। अपने इस कथन की पुष्टि में यास्क ने मन्त्र उद्धृत कर उदाहरण भी दिया है कि–**"इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति"** इति। "तुम्हें बल के कारण देवता लोग इन्द्र-सा या वायु-सा पूजते हैं"। अग्नि-देवता के इस मंत्र में वायु और इन्द्र का चिह्न है–**"वायुलिङ्गं च इन्द्रलिङ्गं च आग्नेये मन्त्रे"**। अतः लिङ्गज्ञान के आधार पर किये प्रधान माना जाय वायु को या इन्द्र को यह निर्णय नहीं हो पाता है। इस प्रकार लिङ्गज्ञान के आधार मुख्य देवता का ज्ञान करना अत्यन्त कठिन है। अतः देवताज्ञान के लिए निरुक्ताध्ययन आवश्यक है। इस गुण के कारण निरुक्त कर्मकाण्ड और पूर्वमीमांसा का भी पूरक कहा जा सकता है।

5. **पद-विभाग कराना**– **"अथापीदमन्तरेण पद-विभागो न विद्यते"**। मंत्रों में पदों का विभाग करने के लिए भी निरुक्त-ज्ञान भी आवश्यक है। बिना निरुक्त के पद-विभाग संभव नहीं और बिना पद-विभाग के मन्त्रार्थ परिज्ञान शशशृङ्गवत् है। निरुक्त के द्वारा ही किसी पद को उसके विभिन्न खण्डों में बाँट सकते हैं। क्योंकि अथ न जानने वाला यह नहीं समझ सकता कि किसी पद में एक ही शब्द है या दो शब्द, यथा–**अवसाय पद्वते०**=पैर वाले भोजन के लिए, **अवस**=भोजन– इसमें **'अव्'** धातु और **'अस्'** प्रत्यय हैं, दोनों मिलकर ही पद बनाते हैं, इसलिए **'अवस'** एक पद है, जिसका चतुर्थी एकवचन में रूप है–**अवसाय**=भोजन के लिए। किन्तु **'अवसाय अश्वान्'**=घोड़ों को खोलकर–यहाँ अव उपसर्ग है, ✓स्यो=खोलना धातु से ल्यप् प्रत्यय लगा है, इसलिए दो पद होने के कारण इसमें पदविभाग करना पड़ता है तथा पद-पाठकर **'अवऽसाय'** ऐसा इसका पदपाठ करते हैं। एक ही तरह के पद में, कभी एक शब्द, कभी दो शब्द हो जाते हैं, इसे निरुक्त द्वारा ही समझा जा सकता है। अतएव निरुक्त ज्ञान की आवश्यकता है।

6. **प्रशंसा प्राप्त कराना**– **"अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च"**। निरुक्त के द्वारा वेद मंत्रों का अर्थज्ञान होता है। और ज्ञान की प्रशंसा व अज्ञान की निन्दा होती है। वेदों का अर्थ बिना जाने हुए केवल रट जाना निष्फल है। अतएव निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है–

> **"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।**
> **योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।**

4. निर्वचन के सिद्धान्त

निर्वचन का तात्पर्य है– व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बतलाना। यथा–'राम' शब्द की व्युत्पत्ति है–✓रम् + घञ् (अ),। किन्तु निर्वचन है **'रमन्ते योगिनो यस्मिन्'**– इसमें धातु के साथ अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। निरुक्त का उद्देश्य है, वैदिक शब्दों की व्याख्या करना, अर्थज्ञान कराना। अतएव निरुक्त में यास्क ने निर्वचन की अनिवार्यता पर बल देते हुए–**"न त्वेव न निर्ब्रूयात्"**। अनेक शब्दों का निर्वचन किया हैं और द्वितीय-अध्याय के 'प्रथम-पाद' में निर्वचन-प्रक्रिया को प्रस्तुत करते हुए निर्वचन के कुछ सामान्य और विशेष सिद्धान्तों को निम्नप्रकार बतलाया है–

(i) **सामान्य सिद्धान्त**– यास्क ने निर्वचन के तीन सामान्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जो निम्न प्रकार है–

1. **तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्**– जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का वही अर्थ हो, जो उस शब्द का है, स्वर या बनावट के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो, और व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा ही उसकी बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्य रीति से उसके अनुसार ही करना चाहिए। यथा–'धातु' की व्युत्पत्ति ✓धा (धारण करना) से की गयी हैं 'पाचक इसमें' ✓पच् + ण्वुल (अक्) के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा ✓पच् धातु का ✓पाच् के रूप में परिवर्तन स्पष्ट व्यक्त हो रहा है। अतएव इसका निर्वचन .पचतीति पाचकः=पच्+अक है। धावक गायक, याग आदि शब्दों का निर्वचन इसी प्रकार संभव है। निर्वचन की यह रीति व्याकरण से मेल रखती है तथा वैज्ञानिकता से सम्बद्ध है।

2. **अथानन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे, अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृतिसामान्येन**– जब शब्द में दिखलाई पड़ने वाले धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या शब्द का अर्थ रखने वाले धातु से उस शब्द की सिद्धि में व्याकरण बाधक हो, तब उस शब्द के विभिन्न रूपों की तुलना धातु के विभिन्न रूपों से करनी चाहिए और कहीं पर भी समानता मिलने पर निर्वचन कर देना चाहिए। यथा–'राजा' की व्युत्पत्ति "✓राज्=शोभना" से की जाती है। क्योंकि राजा भी राज्य में शोभते हैं–राजन्ते!

3. **अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्**– शब्द के विभिन्न रूपों की तुलना धातु के विभिन्न रूपों से करने पर कहीं समानता प्राप्त न हो तो अर्थ देखकर धातु और शब्द में एक आध स्वर या व्यञ्जन की समानता को आधार मानकर निर्वचन कर देना चाहिए। यथा– रकार और उपकार की समानता होने से ही 'रूप' की व्युत्पत्ति ✓रुच्=अच्छा लगना धातु से है। यास्क का कथन है कि ऐसे स्थलों में व्याकरण की व्युत्पत्ति का

सहारा नही लेना चाहिए क्योंकि रूप संज्ञा या क्रिया की बनावट सन्देहात्मक होते हैं। अर्थ के अनुसार विभक्तियों की कल्पना करनी चाहिए-**"न संस्कारम् आद्रियेत। विशयवत्यः हि वृत्तयः भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः संनमयेत्"**।

(ii) **विशेष सिद्धान्त**-(क) शब्द में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिए। शब्दों में किस प्रकार परिवर्तन होता है, इसका विवेचन करते हुए यास्क कहते हैं-

1. **"प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादौ एव शिष्येते।"** धातु के कुछ रूपों में आदि-अक्षर ही बचता है और सभी अक्षर लुप्त हो जाते हैं, यथा-प्र + ✓दा + क्त = प्रत्त। इसमें अर्थात् प्र'त्' त में ✓दा का केवल 'द्' ही 'त्' के में अवशिष्ट है।

2. **"अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति-स्तः सन्तीति"**। कही-कहीं आदि स्वर का लोप हो जाता है, यथा-✓अस् का गुणवृद्धि से रहित स्थानों में पहला अक्षर लुप्त हो जाता है- स्तः, सन्ति। भाषाविज्ञान भी इसे स्वीकार करता है तथा आदि 'स्वर-लोप' कहता है। उदाहरणतया-अपिनद्ध > पिनद्ध, अवगाह्य > वगाह्य, Esquirere-Squire इत्यादि। महाभाष्य में भी कहा है-**"वष्टि भागुरिल्लोपमवाप्योरूपसर्गयोः"**।

3. **"अथापि अन्तःलोपो भवति-गत्वा गतमिति"**। कही-कही धातु के अन्त्य-अक्षर का लोप हो जाता है, यथा-✓गम्-गतः, गत्वा।

4. **"अथापि उपधालोपो भवति-जग्मतुः, जग्मुः इति"**। कही-कही मध्यम स्वर अर्थात् उपधा का भी लोप हो जाता है। यथा-✓गम् > जग्मतुः, जग्मुः, में 'ग' के अकार का लोप हो जाता है।

राजा, दण्डी इति

5. **"अथापि उपधाविकारो भव"** कहीं-कहीं उपधा विकार हो जाता है। ह्रस्व स्वर के बाद अनुनासिक वर्ण रहने से दीर्घ-स्वर हो जाता है-राजन् > राजा, दण्डिन् > दण्डी।

6. **"अथापि वर्णलोपो भवति-'तत्त्वा यामि' इति"**। कही-कही वर्ण-लोप-दूसरे व्यञ्जन के पूर्व व्यञ्जन का लोप हो जाता है यथा- तत्त्वा। तत्वा।

7. **"अथापि द्विवर्णलोपः-तृचः इति"**। कही-कही दो वर्णों का लोप हो जाता है। यथा- ऋच > तृच् में 'र्' और 'य्' का लोप।

8. **"अथापि आदिविपर्ययो भवति-ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाय्यः इति"**। कही-कही आदि वर्ण का भी परिवर्तन होता है। यथा- ✓द्युत् > ज्योतिः, ✓हन् > घनः, ✓भिद् > बिन्दुः, ✓भट् भरण-पोषण > वास्यः।

9. **"अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति-स्तोकः, रज्जुः, सिकताः, तर्कुः इति"**। कही-कही दोनों ओर के व्यञ्जन परस्पर स्थान बदल सकते हैं। यथा- ✓श्चुत् > स्तोकः, ✓सृज् > रज्जुः, ✓कस् > सिकताः, इत्यादि।

10. **"अथापि अन्तव्यापत्तिः भवति।"**। कहीं अन्तिम व्यञ्जन में विकार हो जाता है। यथा- हकार का 'घ्' या 'ध्' होना- ✓वह > ओघः, ✓वह् > वधूः तथा मह > मधु।

11. **"अथापि वर्णोपजनः-आस्थत्, हारः, भरुजाः इति"**। कही पर वर्णागम हो जाता है। यथा- 'आस्वत्' में 'अस्' धातु से 'लुङ्' में 'अस्यतेस्थुक्' से 'थुक्' का आगम होकर 'आस्थत्' होता है।

12. **"अन्तःस्थ वर्ण"** रहने से सम्प्रसारण-विकार भी हो सकता है। यथा- ✓अव् > ऊति, ✓मृद् > मृदु।

उपर्युक्त सभी विकार निर्वचन में सहायक होते हैं, किन्तु ये अनियमित हैं, किस स्थान पर होंगे-ऐसा नियम बनाना बड़ा कठिन है। दुर्गाचार्य ने इन नियमों में कुछ चुनकर निरुक्त का लक्षण किया है-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

1. वर्णागम 2. वर्ण-विपर्यय 3. वर्ण-विकार, 4. वर्णनाश और 5. अर्थ के अनुसार धातु से रूप की कल्पना करना। किसी शब्द का निर्वचन करने के लिए ध्वनि-विकार के ये सिद्धान्त भाषा विज्ञान को भी मान्य है।

(ख) निर्वचन के प्रसंग में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि देश और काल के अनुसार आख्यात तथा नाम के प्रयोगस्थल भिन्न-भिन्न हैं। यह संभव है कि संस्कृत में आख्यात का प्रयोग होता है और वैदिक भाषा में उससे बने हुए शब्द का। वैदिक भाषा में वह धातु अप्रयुक्त है, तो संस्कृत भाषा में उससे सम्बद्ध शब्द नही मिलता। यह कालगत प्रयोग-भेद है। इसी प्रकार देशगत भेद भी है। नाम-पद का प्रयोग जिस क्षेत्र विशेष में होता है, इससे सम्बद्ध क्रिया का प्रयोग नहीं भी हो सकता है, प्रत्युत वह दूसरे क्षेत्र में प्रयुक्त होती है, जहाँ उससे संबद्ध नाम-पद को लोग जानते भी नही हैं। यथा–शव्-क्रिया=जाना का प्रयोग कम्बोज-देश में, और शव-संज्ञा का प्रयोग आर्य-लोग करते हैं। ✓दा=काटना प्राच्य-देश में तथा 'दात्र' उदीच्य-देश में बोलते हैं। अतः देश व कालानुसार आख्यात तथा नाम के भिन्न-भिन्न प्रयोगस्थल को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिए।

निर्वचनों के उपर्युक्त नियमों को यास्क ने 'एकपर्व' माना है अर्थात् उन शब्दों में एक ही जोड़ है, एक बार में शब्द से धातु तक पहुँच जाते हैं।

(ग) **"अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु च अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम् अपरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्डयः पुरुषः।"** तद्धित और समास अनेक पर्व हैं। क्योंकि इनका सीधा निर्वचन संभव नही है। यथा–तद्धित–दण्डय पुरुष=दण्ड के योग्य, या दण्ड से युक्त। 'दण्ड' ✓दद्=धारण करना, से बना है। औपमन्यव के मत से ✓दम्=दबाना, से बना है। अतएव निर्वचन प्रक्रिया हुई–दण्डय < दण्ड < दद् या दम्। समास– राजपुरुष। इसका विग्रह है– राजा का पुरुष। राजा ✓राज्=शोभना से बना है।

विषयसन्निविष्ट व्युत्पत्तियाँ

1. **आचार्य**–आचार्य शब्द की निम्नलिखित तीन व्युत्पत्तियाँ यास्क द्वारा दी गई हैं–

(1) **आचार्य आचारं ग्राहयति**– आचार्य इसलिए कहते हैं चूंकि वह आचार को ग्रहण कराता है, विद्यार्थी को आचार सिखाता है।

(2) **आचिनोत्यर्थान्**– पदार्थों का संचय करता है, विद्यार्थी को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करा देता है, वह आचार्य है।

(3) **आचिनोति बुद्धिमिति वा**– चूंकि आचार्य शिष्य की बुद्धि का संचय करता है, उसकी बुद्धि बढ़ाता है, अतः उसे आचार्य कहते हैं।

2. **वीर–"वीरः वीरयति अमित्रान्"**। अर्थात् वीर इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर देता है। **"वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। वीरयते र्वा"**। वीर शब्द वि + ✓ईर्; या गत्यर्थक ✓वी धातु से बना है, क्योंकि वीर पुरुष शत्रुओं के अभिमुख जाता ही रहता है। अथवा वीर शब्द विक्रान्ति अर्थ वाली ✓वीरय् धातु से बना है, क्योंकि वीर पुरुष पराक्रम करता रहता है।

3. **ह्रदः–"ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्रादनेः वा स्यात् शीतीभावकर्मणः"**। अर्थात् ह्रद शब्द शब्दार्थक ✓ह्राद धातु से बना है अथवा 'शीतल करना' अर्थ वाले ✓ह्राद धातु से बना है। क्योंकि उसमें स्नानादि के कारण या जल जन्तुओं के कारण एक विशेष प्रकार की आवाज होती रहती है। अथवा वे सदा शीतल रहते हैं।

4. **गौः– "गौः इति पृथिव्याः नामधेयम्"**। गौ पृथिवी का पर्याय है। **"यत् दूरं गता भवति। यत् च अस्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेः वा। ओकारो नामकरणः"**। यतः यह दूर तक गई हुई है अथवा इसमें सभी प्राणी गति करते हैं। अतः इसे 'गौ' कहते हैं। इन दोनों विग्रहों में 'गम्' धातु से 'डो' प्रत्यय करके 'गो' सिद्ध होता है। अथवा 'गाङ् गतौ' से ओकार प्रत्यय करके 'गो' बनता है।

'गौ' शब्द यद्यपि पृथिवी के पर्याय में पढ़ा गया है, किन्तु यह अन्य अर्थों का भी वाचक है– यथा–

(1) **"अथापि पशु-नामेह भवत्येतस्मादेव"**। 'गौ' शब्द पशुविशेष का – गाय का वाचक है।

(2) **"अथाप्यंस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति"**। इसी 'गो' पद में तद्धित प्रत्यय करके पूरे 'गो' शब्द की तरह वैदिक प्रयोग होते हैं। यथा-'गो' से उत्पन्न हुए दूध आदि को भी 'गो' शब्द से लिया जाता है।

(3) **"अथापि चर्म च श्लेष्मा च"**। 'गो' शब्द से चमड़े तथ चर्बी का भी बोध होता है।

(4) **"अथापि स्नाव च श्लेष्मा च"**। 'गो' शब्द ताँत और चर्बी का भी वाचक है।

(5) **"ज्यापि गौरुच्यते"**। धनुष की प्रत्यञ्चा भी 'गो' शब्द से व्यवहृत होती है।

(6) **"आदित्योऽपि गौरुच्यते"**। 'सूर्य' को भी 'गो' कहते हैं।

(7) **"सोऽपि गौरुच्यते"**। सुषुम्णा नामक सूर्य की रश्मि का भी 'गो' शब्द से बोध होता है।

(8) **"सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते"**। सभी सूर्य-रश्मियाँ 'गो' शब्द से व्यवहृत होती है।

5. **समुद्रः-"समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा"**। यतः इससे जल निकलता है-सम् उत✓द्रु, अथवा जब इसी में जाता है- सम् अभि✓द्रु, अथवा इसमें जीव मोद मानते हैं-✓मुद् अथवा यह बहुत जलवाला होता है अथवा यह भिगो देता है-✓उन्द्, अतः इसे समुद्र कहते है।

6. **वृत्रः-"वृत्रो वृणोतेः वा। वर्ततेः वा, वर्धतेः वा"**। यह 'वृत्र' शब्द आच्छादनार्थक 'वृञ्' धातु से बनता है क्योंकि वृत्र-मेघ आकाश को आच्छादित कर लेता है। अथवा वर्त्तमानार्थक 'वृत्' धातु से बनता है, क्योंकि वह वर्तमान रहता है, अथवा वृद्ध्यर्थक 'वृध्' धातु से बनता है, क्योंकि बरसात में वृत्र-मेघ खूब बढ़ता है। वृत्र की विशेषता यही जानी जाती है कि उसने आकाश को ढक लिया। वह वर्तमान था और बरसात में बढ़ गया था- **"यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" इति विज्ञायते। "यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" इति विज्ञायते। "यदवर्द्धत" तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते।**

7. **आदित्य-"आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा"**। यतः यह रसों को लाता है- आ✓दा, अथवा ज्योतिपुंजों का प्रकाश लाता है, अथवा प्रकाश से आदीप्त है, अथवा अदिति का पुत्र है, अतः **आदित्य** कहलाता है। ऋग्वेद में इस आदित्य का आदितेय नाम अल्प प्रयुक्त है। केवल एक सूक्त में, 10/88/11 में सूर्य के लिए आदितेय शब्द का प्रयोग है। दूसरे देवताओं का भी आदित्य नाम से स्तुतियाँ हैं। मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष आदि आदित्य नाम से कहे गये हैं। आदित्य को स्वर कहते हैं- **'स्वरादित्यो भवति'**। आदित्य को पृश्नि भी कहते हैं- **'पृश्निरादित्यो भवति'**। आदित्य को नाक भी कहते हैं- **'नाकः आदित्यो भवति'**। आदित्य को गौ कहते हैं-**'गौः आदित्यो भवति'**। आदित्य को विष्टप् कहते हैं-**'विष्टप् आदित्यो भवति'**। आदित्य को नभ कहते हैं-**'नभ आदित्यो भवति'**।

8. **उषस्-"उच्छतीति"**। 'उषा' शब्द विवासार्थक✓'उच्छ्' धातु से बना है। क्योंकि यह अँधेरे को विवासित करती है-निकालती है। उषा रात्रि का पिछला पहर **है-रात्रेः अपरः कालः**।

9. **मेघ-"मेहतीति सतः"**। 'मेघ' शब्द सींचनार्थक ✓'मिह्' धातु से बना है। क्योंकि सींचता रहता है, बरसता रहता है।

10. **वाक्-"वचेः"**। 'वाक्' शब्द बोलने अर्थ वाली 'वच्' धातु से बनता है। जिससे बोला जाय, वह 'वाक्' कहलाती है-**वक्तीति वाक्**।

11. **उदक-"उनत्तीति सतः"**। भिंगानार्थक✓'उन्द्' धातु से 'उदक' शब्द बनता है। क्योंकि वह भिगो देता है, आर्द्र कर देता है।

12. **नदी-"नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः"**। 'नदी' शब्द शब्दकरनार्थक 'नद्' धातु से बनता है। क्योंकि नदियाँ शब्द करने वाली होती हैं, जोरों की आवाज करती है।

13. **अश्वः–"अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा"।** यतः अश्व मार्ग को व्याप लेता है, अथवा बहुत खाने वाला होता है, अतः उसे **अश्व** कहते हैं। पहली व्युत्पत्ति में 'अशूङ् व्याप्तौ' से अश्व बनता है और दूसरी व्युत्पत्ति में 'अश् भोजने' से अश्व बनता है।

14. **अग्निः–"अग्रणीः भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनः भवति–इति स्थौलाष्ठीविः"।** अतः अग्नि 'अगुआ' होता है, अथवा यज्ञों में सर्वप्रथम ले जाया जाता है, अथवा कोई भी वस्तु यथा तृण, काष्ठादि दी जाने पर उसे अपना अंग बना लेते हैं, अतः अग्नि कहलाता है। स्थौलाष्ठीवि आचार्य के मतानुसार अग्नि अक्नोपन होता है। अक्नोपन अर्थ अस्नेहन विरुक्षीकरण है। अग्नि सब रसों को सूखा कर देता है, भिगाता नहीं है, स्निग्ध नहीं करता है। अतः अग्नि कहलाता है।

15. **जातवेदस्–"जातानि वेद। जातानि वा एनं विदुः। जाते जाते विद्यते इति वा। जातवित्तो वा=जातधनः। जातविद्यो वा=जातप्रज्ञानः"।** जातवेदाः अग्नि का नाम है। क्योंकि यह सभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, अथवा उत्पन्न वस्तुएँ उसे जानती हैं, या वह प्रत्येक उत्पन्न वस्तु में विद्यमान है, अथवा उत्पन्न वस्तुएँ ही उसके लिए वित्त=धन हैं, अथवा उत्पन्न वस्तुएँ उसके लिए विद्या=ज्ञान हैं।

16. **वैश्वानरः–"विश्वान् नरान् नयति। विश्वे एनं नराः नयन्ति इति वा। अपि वा, विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि"।** यतः यह सभी मनुष्यों को ले जाता है, अथवा इसे ही सभी मनुष्य ले जाते हैं, अथवा 'विश्वान् + अर = सबको व्याप्त करने वाला, से बना हो। क्योंकि यह सभी जीवों को व्याप्त करता है, अतः वैश्वानर कहलाता है।

17. **निघण्टु–** गवादिदेवपत्न्यन्त वैदिक शब्दकोष को 'निघण्टु' कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति निम्न तीन प्रकार से कहते है।–

1. **निगमा इमे भवन्ति–छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः।**

आचार्य औपमन्यव का विचार है कि ये शब्द निश्चयपूर्वक मन्त्रों के अर्थों का बोध कराने वाले होते हैं। वेदों से चुन-चुनकर एकत्र ग्रथित किये गये हैं। वे ये शब्द निश्चयपूर्वक मन्त्रार्थ का बोध कराने के कारण 'निगन्तु' ही होते हुए 'निघण्टु' कहे जाने लगे।

नि✓गम् > निगममितृ (निगन्तृ) > निगन्तु > निघण्टु=अर्थ- बतलाने वाला

2.अपि वाऽऽहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति।

ये सभी शब्द साथ-साथ कहे गये या विभाजित किये गये हैं। अतः इस आहनन क्रियायोग से ही 'समाहन्तु' होते हुए उपसर्गव्यत्यय, उपसर्गाध्याहार और वर्णविपर्ययादि करके 'निघण्टु' कहलाने लगे। 'समाहन्तु' के 'सम्' के स्थान पर 'नि', 'आ' की अविद्यमानता का अध्याहार, 'ह' के स्थान पर 'घ' और 'त' के स्थान पर 'ट' होकर 'समाहन्तु' का निघण्टु बना है।

सम् आ✓हन् > समाहन्तृ > समाहन्तु > निघण्टु=जमा किया हुआ।

3. **यद्वा समाहृता भवन्ति।**

यतः ये वैदिक शब्द मन्त्रों से एकत्रित किये गये हैं, अतः इस समाहरण क्रियायोग से 'समाहर्त्त' नाम पड़ते पड़ते उपसर्ग-व्यत्ययादि करके 'निघण्टु' कहे जाने लगे।

सम् आ✓हृ > समाहर्त्तृ > समाहर्त्तु > निघण्टु=चुना हुआ।

दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में व्युत्पत्ति की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं को क्रमशः प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और आतिपरोक्षवृत्ति कहा है। प्रत्यक्षवृत्ति की अवस्था में धातु स्पष्ट रहता है, यथा– निगमयितृ; परोक्षवृत्ति की अवस्था में वह सामान्य प्रयोग से अलग हो जाता है, यथा – निगन्तु; अति परोक्षवृत्ति की अवस्था में धातु का पता ही नहीं लगता यथा– निघण्टु।